Sampadaky_Sampadak 26/11/2024 12:45 PM Page 1

डा. भीमराव अम्बेडकर का सदन में अंतिम भाषण

महोदय, संविधान सभा के कार्य पर नजर डालते हुए 9 दिसंबर,1946 को हुई उसकी पहली बैठक के बाद अब दो वर्ष, ग्यारह महीने और सत्रह दिन हो जाएंगे। इस अवधि के दौरान संविधान सभा की कुल मिलाकर 11 बैठकें हुई हैं। इन 11 सत्रों में से छह उद्देश्य प्रस्ताव पास करने तथा मूलभूत अधिकारों पर, संघीय संविधान पर, संघ की शक्तियों पर, राज्यों के संविधान पर, अल्पसंख्यकों पर, अनुसूचित क्षेत्रों और अनुसूचित जनजातियों पर बनी समितियों की रिपोर्टों पर विचार करने में व्यतीत हुए। सातवें, आठवें, नौवें, दसवें और ग्यारहवें सत्र प्रारूप संविधान पर विचार करने के लिए उपयोग किए गए। संविधान सभा के इन 11 सत्रों में 165 दिन कार्य हुआ। इनमें से 114 दिन प्रारूप संविधान के विचारार्थ लगाए गए।

प्रारूप समिति की बात करें तो वह 29 अगस्त, 1947 को संविधान सभा द्वारा चुनी गई थी। उसकी पहली बैठक 30 अगस्त को हुई थी। 30 अगस्त से 141 दिनों तक वह प्रारूप संविधान तैयार करने में जुटी रही। प्रारूप समिति द्वारा आधार रूप में इस्तेमाल किए जाने के लिए संवैधानिक सलाहकार द्वारा बनाए गए प्रारूप संविधान में 243 अनुच्छेद और 13 अनुसूचियां थीं। प्रारूप समिति द्वारा संविधान सभा को पेश किए गए पहले प्रारूप संविधान में 315 अनुच्छेद और आठ अनुसूचियां थीं। उस पर विचार किए जाने की अवधि के अंत तक प्रारूप संविधान में अनुच्छेदों की संख्या बढ़कर 386 हो गई थी। अपने अंतिम स्वरूप में प्रारूप संविधान में 395 अनुच्छेद और आठ अनुसूचियां हैं। प्रारूप संविधान में कुल मिलाकर लगभग 7,635 संशोधन प्रस्तावित किए गए थे। इनमें से कुल मिलाकर 2,473 संशोधन वास्तव में सदन के विचारार्थ प्रस्तुत किए गए।

मैं इन तथ्यों का उल्लेख इसलिए कर रहा हूं कि एक समय यह कहा जा रहा था कि अपना काम पूरा करने के लिए सभा ने बहुत लंबा समय लिया है और यह कि वह आराम से कार्य करते हुए सार्वजनिक धन का अपव्यय कर रही है। उसकी तुलना नीरो से की जा रही थी, जो रोम के जलने के समय वंशी बजा रहा था। क्या इस शिकायत का कोई औचित्य है? जरा देखें कि अन्य देशों की संविधान सभाओं ने, जिन्हें उनका संविधान बनाने के लिए नियुक्त किया गया था, कितना समय लिया।

कुछ उदाहरण लें तो अमेरिकन कन्वेंशन ने 25 मई, 1787 को पहली बैठक की और अपना कार्य 17 सितंबर, 1787 अर्थात चार महीनों के भीतर पूरा कर लिया। कनाडा की संविधान सभा की पहली बैठक 10 अक्टूबर, 1864 को हुई और दो वर्ष पांच महीने का समय लेकर मार्च 1867 में संविधान कानून बनकर तैयार हो गया। ऑस्ट्रेलिया की संविधान सभा मार्च 1891 में बैठी और नौ वर्ष लगाने के बाद नौ जुलाई, 1900 को संविधान कानून बन गया। दक्षिण अफ्रीका की सभा की बैठक अक्टूबर 1908 में हुई और एक वर्ष के श्रम के बाद 20 सितंबर, 1909 को संविधान कानून बन गया।

यह सच है कि हमने अमेरिकन या दक्षिण अफ्रीकी सभाओं की तुलना में अधिक समय लिया। परंतु हमने कनाडियन सभा से अधिक समय नहीं लिया और ऑस्ट्रेलियन सभा से तो बहुत ही कम। संविधान-निर्माण में समयावधियों की तुलना करते समय दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। एक तो यह कि अमेरिका, कनाडा, दक्षिण अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया के संविधान हमारे संविधान के मुकाबले बहुत छोटे आकार के हैं। जैसा मैंने बताया, हमारे संविधान में 395 अनुच्छेद हैं, जबकि अमेरिकी संविधान में केवल 7 अनुच्छेद हैं, जिनमें से पहले चार सब मिलकर 21 धाराओं में विभाजित हैं। कनाडा के संविधान में 147, आस्ट्रेलियाई में 128 और दक्षिण अफ्रीकी में 153 धाराएं हैं।

याद रखने लायक दूसरी बात यह है कि अमेरिका, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया और दक्षिण अफ्रीका के संविधान निर्माताओं को संशोधनों की समस्या का सामना नहीं करना पड़ा। वे जिस रूप में प्रस्तुत किए गए, वैसे ही पास हो गए। इसकी तुलना में इस संविधान सभा को 2,473 संशोधनों का निपटारा करना पड़ा। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए विलंब के आरोप मुझे बिलकुल निराधार लगते हैं और इतने दुर्गम कार्य को इतने कम समय में पूरा करने के लिए यह सभा स्वयं को बधाई तक दे सकती है।

प्रारूप समिति द्वारा किए गए कार्य की गुणवत्ता की बात करें तो नजीरुद्दीन अहमद ने उसकी निंदा करने को अपना फर्ज समझा। उनकी राय में प्रारूप समिति द्वारा किया गया कार्य न तो तारीफ के काबिल है, बल्कि निश्चित रूप से औसत से कम दर्जे का है। प्रारूप समिति के कार्य पर सभी को अपनी राय रखने का अधिकार है और अपनी राय व्यक्त करने के लिए नजीरुद्दीन अहमद का ख्याल है कि प्रारूप समिति के किसी भी सदस्य के मुकाबले उनमें ज्यादा प्रतिभा है। प्रारूप समिति उनके इस दावे की चुनौती नहीं देना चाहती।

इस बात का दूसरा पहलू यह है कि यदि सभा ने उन्हें इस समिति में नियुक्त करने के काबिल समझा होता तो समिति अपने बीच उनकी उपस्थिति का स्वागत करती। यदि संविधान-निर्माण में उनकी कोई भूमिका नहीं थी तो निश्चित रूप से इसमें प्रारूप समिति का कोई दोष नहीं है। प्रारूप समिति के प्रति अपनी नफरत जताने के लिए नजीरुद्दीन ने उसे एक नया नाम दिया। वे उसे 'ड्रिलिंग कमेटी' कहते हैं। निस्संदेह नजीरुद्दीन अपने व्यंग्य पर खुश होंगे। परंतु यह साफ है कि वह नहीं जानते कि बिना कुशलता के बहने और कुशलता के साथ बहने में अंतर है।

यदि प्रारूप समिति ड्रिल कर रही थी तो ऐसा कभी नहीं था कि स्थिति पर उसकी पकड़ मजबूत न हो। वह केवल यह सोचकर पानी में कांटा नहीं डाल रही थी कि संयोग से मछली फंस जाए। उसे जाने-पहचाने पानी में लक्षित मछली की तलाश थी। किसी बेहतर चीज की तलाश में रहना प्रवाह में बहना नहीं है।

यद्यपि नजीरुद्दीन ऐसा कहकर प्रारूप समिति की तारीफ करना नहीं चाहते थे, मैं इसे तारीफ के रूप में ही लेता हूं। समिति को जो संशोधन दोषपूर्ण लगे, उन्हें वापस लेने और उनके स्थान पर बेहतर संशोधन प्रस्तावित करने की ईमानदारी और साहस न दिखाया होता तो वह अपना कर्तव्य-पालन न करने और मिथ्याभिमान की दोषी होती। यदि यह एक गलती थी तो मुझे खुशी है कि प्रारूप समिति ने ऐसी गलतियों को स्वीकार करने में संकोच नहीं किया और उन्हें ठीक करने के लिए कदम उठाए।

यह देखकर मुझे प्रसन्नता होती है कि प्रारूप समिति द्वारा किए गए कार्य की प्रशंसा करने में एक अकेले सदस्य को छोड़कर संविधान सभा के सभी सदस्य एकमत थे। मुझे विश्वास है कि अपने श्रम की इतनी सहज और उदार प्रशंसा से प्रारूप समिति को प्रसन्नता होगी। सभा के सदस्यों और प्रारूप समिति के मेरे सहयोगियों द्वारा मुक्त कंठ से मेरी जो प्रशंसा की गई है, उससे मैं इतना अभिभूत हो गया हूं कि अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए मेरे पास पर्याप्त शब्द नहीं हैं। संविधान सभा में आने के पीछे मेरा उद्देश्य अनुसूचित जातियों के हितों की रक्षा करने से अधिक कुछ नहीं था।

मुझे दूर तक यह कल्पना नहीं थी कि मुझे अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य सौंपा जाएगा। इसीलिए, उस समय मुझे घोर आश्चर्य हुआ, जब सभा ने मुझे प्रारूप समिति के लिए चुन लिया। जब प्रारूप समिति ने मुझे उसका अध्यक्ष निर्वाचित किया तो मेरे लिए यह आश्चर्य से भी परे था। प्रारूप समिति में मेरे मित्र सर अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर जैसे मुझसे भी बड़े, श्रेष्ठतर और अधिक कुशल व्यक्ति थे। मुझ पर इतना विश्वास रखने, मुझे अपना माध्यम बनाने एवं देश की सेवा का अवसर देने के लिए मैं संविधान सभा और प्रारूप समिति का अनुगृहीत हूं।

(करतल-ध्वनि)

जो श्रेय मुझे दिया गया है, वास्तव में उसका हकदार मैं नहीं हूं। वह श्रेय संविधान सभा के संवैधानिक सलाहकार सर बी.एन. राव को जाता है, जिन्होंने प्रारूप समिति के विचारार्थ संविधान का एक सच्चा प्रारूप तैयार किया। श्रेय का कुछ भाग प्रारूप समिति के सदस्यों को भी जाना चाहिए जिन्होंने, जैसे मैंने कहा, 141 बैठकों में भाग लिया और नए फॉर्मूले बनाने में जिनकी दक्षता तथा विभिन्न दृष्टिकोणों को स्वीकार करके उन्हें समाहित करने की सामथ्र्य के बिना संविधान-निर्माण का कार्य सफलता की सीढ़ियां नहीं चढ़ सकता था।

श्रेय का एक बड़ा भाग संविधान के मुख्य ड्राफ्ट्समैन एस.एन. मुखर्जी को जाना चाहिए। जटिलतम प्रस्तावों को सरलतम व स्पष्टतम कानूनी भाषा में रखने की उनकी सामर्थ्य और उनकी कड़ी मेहनत का जोड़ मिलना मुश्किल है। वह सभा के लिए एक संपदा रहे हैं। उनकी सहायता के बिना संविधान को अंतिम रूप देने में सभा को कई वर्ष और लग जाते। मुझे मुखर्जी के अधीन कार्यरत कर्मचारियों का उल्लेख करना नहीं भूलना चाहिए, क्योंकि मैं जानता हूं कि उन्होंने कितनी बड़ी मेहनत की है और कितना समय, कभी-कभी तो आधी रात से भी अधिक समय दिया है। मैं उन सभी के प्रयासों और सहयोग के लिए उन्हें धन्यवाद देना चाहता हूं।

यदि यह संविधान सभा भानुमति का कुनबा होती, एक बिना सीमेंट वाला कच्चा फुटपाथ, जिसमें एक काला पत्थर यहां और एक सफेद पत्थर वहां लगा होता और उसमें प्रत्येक सदस्य या गुट अपनी मनमानी करता तो प्रारूप समिति का कार्य बहुत कठिन हो जाता। तब अव्यवस्था के सिवाय कुछ न होता। अव्यवस्था की संभावना सभा के भीतर कांग्रेस पार्टी की उपस्थिति से शून्य हो गई, जिसने उसकी कार्रवाईयों में व्यवस्था और अनुशासन पैदा कर दिया। यह कांग्रेस पार्टी के अनुशासन का ही परिणाम था कि प्रारूप समिति के प्रत्येक अनुच्छेद और संशोधन की नियति के प्रति आश्वस्त होकर उसे सभा में प्रस्तुत कर सकी। इसीलिए सभा में प्रारूप संविधान के सुगमता से पारित हो जाने का सारा श्रेय कांग्रेस पार्टी को जाता है।

यदि इस संविधान सभा के सभी सदस्य पार्टी अनुशासन के आगे घुटने टेक देते तो उसकी कार्रवाइयां बहुत फीकी होतीं। अपनी संपूर्ण कठोरता में पार्टी अनुशासन सभा को जीहुजूरियों के जमावड़े में बदल देता। सौभाग्यवश, उसमें विद्रोही थे। वे थे कामत, डॉ. पी.एस. देशमुख, सिधवा, प्रो. सक्सेना और पं. ठाकुरदास भार्गव। इनके साथ मुझे प्रो. के.टी. शाह और पं. हृदयनाथ कुंजरू का भी उल्लेख करना चाहिए। उन्होंने जो बिंदु उठाए, उनमें से अधिकांश विचारात्मक थे।

यह बात कि मैं उनके सुझावों को मानने के लिए तैयार नहीं था, उनके सुझावों की महत्ता को कम नहीं करती और न सभा की कार्रवाइयों को जानदार बनाने में उनके योगदान को कम आंकती है। मैं उनका कृतज्ञ हूं। उनके बिना मुझे संविधान के मूल सिद्धांतों की व्याख्या करने का अवसर न मिला होता, जो संविधान को यंत्रवत पारित करा लेने से अधिक महत्वपूर्ण था।

और अंत में, राष्ट्रपति महोदय, जिस तरह आपने सभा की कार्रवाई का संचालन किया है, उसके लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूं। आपने जो सौजन्य और समझ सभा के सदस्यों के प्रति दर्शाई है वे उन लोगों द्वारा कभी भुलाई नहीं जा सकती, जिन्होंने इस सभा की कार्रवाईयों में भाग लिया है। ऐसे अवसर आए थे,

जब प्रारूप समिति के संशोधन ऐसे आधारों पर अस्वीकृत किए जाने थे, जो विशुद्ध रूप से तकनीकी प्रकृति के थे। मेरे लिए वे क्षण बहुत आकुलता से भरे थे, इसलिए मैं विशेष रूप से आपका आभारी हूं कि आपने संविधान-निर्माण के कार्य में यांत्रिक विधिवादी रवैया अपनाने की अनुमति नहीं दी।

संविधान का जितना बचाव किया जा सकता था, वह मेरे मित्रों सर अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर और टी.टी. कृष्णमाचारी द्वारा किया जा चुका है, इसलिए मैं संविधान की खूबियों पर बात नहीं करूंगा। क्योंकि मैं समझता हूं कि संविधान चाहे जितना अच्छा हो, वह बुरा साबित हो सकता है, यदि उसका अनुसरण करने वाले लोग बुरे हों।

एक संविधान चाहे जितना बुरा हो, वह अच्छा साबित हो सकता है, यदि उसका पालन करने वाले लोग अच्छे हों। संविधान की प्रभावशीलता पूरी तरह उसकी प्रकृति पर निर्भर नहीं है। संविधान केवल राज्य के अंगों - जैसे विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका - का प्रावधान कर सकता है। राज्य के इन अंगों का प्रचालन जिन तत्वों पर निर्भर है, वे हैं जनता और उनकी आकांक्षाओं तथा राजनीति को संतुष्ट करने के उपकरण के रूप में उनके द्वारा गठित राजनीतिक दल।

यह कौन कह सकता है कि भारत की जनता और उनके दल किस तरह का आचरण करेंगे? अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए क्या वे संवैधानिक तरीके इस्तेमाल करेंगे या उनके लिए क्रांतिकारी तरीके अपनाएंगे? यदि वे क्रांतिकारी तरीके अपनाते हैं तो संविधान चाहे जितना अच्छा हो, यह बात कहने के लिए किसी ज्योतिषी की आवश्यकता नहीं कि वह असफल रहेगा। इसलिए जनता और उनके राजनीतिक दलों की संभावित भूमिका को ध्यान में रखे बिना संविधान पर कोई राय व्यक्त करना उपयोगी नहीं है।

संविधान की निंदा मुख्य रूप से दो दलों द्वारा की जा रही है - कम्युनिस्ट पार्टी और सोशलिस्ट पार्टी। वे संविधान की निंदा क्यों करते हैं? क्या इसलिए कि वह वास्तव में एक बुरा संविधान है? मैं कहूंगा, नहीं। कम्युनिस्ट पार्टी सर्वहारा की तानाशाही के सिद्धांत पर आधारित संविधान चाहती है। वे संविधान की निंदा इसलिए करते हैं कि वह संसदीय लोकतंत्र पर आधारित है। सोशलिस्ट दो बातें चाहते हैं। पहली तो वे चाहते हैं कि संविधान यह व्यवस्था करे कि जब वे सत्ता में आएं तो उन्हें इस बात की आजादी हो कि वे मुआवजे का भुगतान किए बिना समस्त निजी संपत्ति का राष्ट्रीयकरण या सामाजिकरण कर सकें। सोशलिस्ट जो दूसरी चीज चाहते हैं, वह यह है कि संविधान में दिए गए मूलभत अधिकार असीमित होने चाहिए, ताकि यदि उनकी पार्टी सत्ता में आने में असफल रहती है तो उन्हें इस बात की आजादी हो कि वे न केवल राज्य की निंदा कर सकें, बल्कि उसे उखाड़ फेंकें।

मुख्य रूप से ये ही वे आधार हैं, जिन पर संविधान की निंदा की जा रही है। मैं यह नहीं कहता कि संसदीय प्रजातंत्र राजनीतिक प्रजातंत्र का एकमात्र आदर्श स्वरूप है। मैं यह नहीं कहता कि मुआवजे का भुगतान किए बिना निजी संपत्ति अधिगृहीत न करने का सिद्धांत इतना पवित्र है कि उसमें कोई बदलाव नहीं किया जा सकता। मैं यह भी नहीं कहता कि मौलिक अधिकार कभी असीमित नहीं हो सकते और उन पर लगाई गई सीमाएं कभी हटाई नहीं जा सकतीं। मैं जो कहता हूं, वह यह है कि संविधान में अंतर्निहित सिद्धांत वर्तमान पीढ़ी के विचार हैं। यदि आप इसे अत्युक्ति समझें तो मैं कहूंगा कि वे संविधान सभा के सदस्यों के विचार हैं। उन्हें संविधान में शामिल करने के लिए प्रारूप समिति को क्यों दोष दिया जाए? मैं तो कहता हूं कि संविधान सभा के सदस्यों को भी क्यों दोष दिया जाए? इस संबंध में महान अमेरिकी राजनेता जेफरसन ने बहुत सारगर्भित विचार व्यक्त किए हैं, कोई भी संविधान-निर्माता जिनकी अनदेखी नहीं कर सकते।

एक स्थान पर उन्होंने कहा है -हम प्रत्येक पीढ़ी को एक निश्चित राष्ट्र मान सकते हैं, जिसे बहुमत की मंशा के द्वारा स्वयं को प्रतिबंधित करने का अधिकार है; परंतु जिस तरह उसे किसी अन्य देश के नागरिकों को प्रतिबंधित करने का अधिकार नहीं है, ठीक उसी तरह भावी पीढ़ियों को बांधने का अधिकार भी नहीं है।

एक अन्य स्थान पर उन्होंने कहा है - "राष्ट्र के उपयोग के लिए जिन संस्थाओं की स्थापना की गई, उन्हें अपने कृत्यों के लिए उत्तरदायी बनाने के लिए भी उनके संचालन के लिए नियुक्त लोगों के अधिकारों के बारे में भ्रांत धारणाओं के अधीन यह विचार कि उन्हें छेड़ा या बदला नहीं जा सकता, एक निरंकुश राजा द्वारा सत्ता के दुरुपयोग के खिलाफ एक सराहनीय प्रावधान हो सकता है, परंतु राष्ट्र के लिए वह बिल्कुल बेतुका है। फिर भी हमारे अधिवक्ता और धर्मगुरु यह मानकर इस सिद्धांत को लोगों के गले उतारते हैं कि पिछली पीढ़ियों की समझ हमसे कहीं अच्छी थी। उन्हें वे कानून हम पर थोपने का अधिकार था, जिन्हें हम बदल नहीं सकते थे और उसी प्रकार हम भी ऐसे कानून बनाकर उन्हें भावी पीढ़ियों पर थोप सकते हैं, जिन्हें बदलने का उन्हें भी अधिकार नहीं होगा। सारांश यह कि धरती पर मृत व्यक्तियों का हक है, जीवित व्यक्तियों का नहीं।

मैं यह स्वीकार करता हूं कि जो कुछ जेफरसन ने कहा, वह केवल सच ही नहीं, परम सत्य है। इस संबंध में कोई संदेह हो ही नहीं सकता। यदि संविधान सभा ने जेफरसन के उस सिद्धांत से भिन्न रुख अपनाया होता तो वह निश्चित रूप से दोष बल्कि निंदा की भागी होती। परंतु मैं पूछता हूं कि क्या उसने सचमुच ऐसा किया है? इससे बिल्कुल विपरीत। कोई केवल संविधान के संशोधन संबंधी प्रावधान की जांच करें। सभा न केवल कनाडा की तरह संविधान संशोधन संबंधी जनता के अधिकार को नकारने के जरिए या आस्ट्रेलिया की तरह संविधान संशोधन को असाधारण शर्तों की पूर्ति के अधीन बनाकर उस पर अंतिमता और अमोघता की मुहर लगाने से बची है, बल्कि उसने संविधान संशोधन की प्रक्रिया को सरलतम बनाने के प्रावधान भी किए हैं।

मैं संविधान के किसी भी आलोचक को यह साबित करने की चुनौती देता हूं कि भारत में आज बनी हुई स्थितियों जैसी स्थितियों में दुनिया की किसी संविधान सभा ने संविधान संशोधन की इतनी सुगम प्रक्रिया के प्रावधान किए हैं! जो लोग संविधान से असंतुष्ट हैं, उन्हें केवल दो-तिहाई बहुमत भी प्राप्त करना है और वयस्क मताधिकार के आधार पर यदि वे संसद में दो-तिहाई बहुमत भी प्राप्त नहीं कर सकते तो संविधान के प्रति उनके असंतोष को जन-समर्थन प्राप्त है, ऐसा नहीं माना जा सकता।

संवैधानिक महत्व का केवल एक बिंदु ऐसा है, जिस पर मैं बात करना चाहूंगा। इस आधार पर गंभीर शिकायत की गई है कि संविधान में केंद्रीयकरण पर बहुत अधिक बल दिया गया है और राज्यों की भूमिका नगरपालिकाओं से अधिक नहीं रह गई है। यह स्पष्ट है कि यह दृष्टिकोण न केवल अतिशयोक्तिपूर्ण है बल्कि संविधान के अभिप्रायों के प्रति भ्रांत धारणाओं पर आधारित है। जहां तक केंद्र और राज्यों के बीच संबंध का सवाल है, उसके मूल सिद्धांत पर ध्यान देना आवश्यक है। संघवाद का मूल सिद्धांत यह है कि केंद्र और राज्यों के बीच विधायी और कार्यपालक शक्तियों का विभाजन केंद्र द्वारा बनाए गए किसी कानून के द्वारा नहीं बल्कि स्वयं संविधान द्वारा किया जाता है। संविधान की व्यवस्था इस प्रकार है।

हमारे संविधान के अंतर्गत अपनी विधायी या कार्यपालक शक्तियों के लिए राज्य किसी भी तरह से केंद्र पर निर्भर नहीं है। इस विषय में केंद्र और राज्य समानाधिकारी हैं। यह समस्या कठिन है कि ऐसे संविधान को केंद्रवादी कैसे कहा जा सकता है। यह संभव है कि संविधान किसी अन्य संघीय संविधान के मुकाबले विधायी और कार्यपालक प्राधिकार के उपयोग के विषय में केंद्र के लिए कहीं अधिक विस्तृत क्षेत्र निर्धारित करता हो। यह भी संभव है कि अवशिष्ट शक्तियां केंद्र को दी गई हो, राज्यों को नहीं। परंतु ये व्यवस्थाएं संघवाद का मर्म नहीं है। जैसा मैंने कहा, संघवाद का प्रमुख लक्षण केंद्र और इकाइयों के बीच विधायी और कार्यपालक शक्तियों का संविधान द्वारा किया गया विभाजन है।

यह सिद्धांत हमारे संविधान में सन्निहित है। इस संबंध में कोई भूल नहीं हो सकती। इसलिए, यह कल्पना गलत होगा कि राज्यों को केंद्र के अधीन रखा गया है। केंद्र अपनी ओर से इस विभाजन की सीमा-रेखा को परिवर्तित नहीं कर सकता और न न्यायपालिका ऐसा कर सकती है। क्योंकि, जैसा बहुत सटीक रूप से कहा गया है-

"अदालतें मामूली हेर-फेर कर सकती हैं, प्रतिस्थापित नहीं कर सकतीं। वे पूर्व व्याख्याओं को नए तर्कों का स्वरूप दे सकती हैं, नए दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सकती हैं, वे सीमांत मामलों में विभाजक रेखा को थोड़ा खिसका सकती हैं, परंतु ऐसे अवरोध हैं, जिन्हें वे पार नहीं कर सकती, शक्तियों का सुनिश्चित निर्धारण है, जिन्हें वे पुनरावंटित नहीं कर सकतीं। वे वर्तमान शक्तियों का क्षेत्र बढ़ा सकती हैं, परंतु एक प्राधिकारी को स्पष्ट रूप से प्रदान की गई शक्तियों को किसी अन्य प्राधिकारी को हस्तांतरित नहीं कर सकतीं।" इसलिए, संघवाद को कमजोर बनाने का पहला आरोप स्वीकार्य नहीं है।

दूसरा आरोप यह है कि केंद्र को ऐसी शक्तियां प्रदान की गई हैं, जो राज्यों की शक्तियों का अतिक्रमण करती हैं। यह आरोप स्वीकार किया जाना चाहिए। परंतु केंद्र की शक्तियों को राज्य की शक्तियों से ऊपर रखने वाले प्रावधानों के लिए संविधान की निंदा करने से पहले कुछ बातों को ध्यान में रखना चाहिए। पहली यह कि इस तरह की अभिभावी शक्तियां संविधान के सामान्य स्वरूप का अंग नहीं हैं। उनका उपयोग और प्रचालन स्पष्ट रूप से आपातकालीन स्थितियों तक सीमित किया गया है।

ध्यान में रखने योग्य दूसरी बात है- आपातकालीन स्थितियों से निपटने के लिए क्या हम केंद्र को अभिभावी शक्तियां देने से बच सकते हैं? जो लोग आपातकालीन स्थितियों में भी केंद्र को ऐसी अभिभावी शक्तियां दिए जाने के पक्ष में नहीं हैं वे इस विषय के मूल में छिपी समस्या से ठीक से अवगत प्रतीत नहीं होते। इस समस्या का सुविख्यात पत्रिका; 'द राउंड टेबल' के दिसंबर 1935 के अंक में एक लेखक द्वारा इतनी स्पष्टता से बचाव किया गया है कि मैं उसमें से यह उद्धरण देने के लिए क्षमाप्रार्थी नहीं हूं। लेखक कहते हैं- "राजनीतिक प्रणालियां इस प्रश्न पर अवलंबित अधिकारों और कर्तव्यों का एक मिश्रण हैं कि एक नागरिक किस व्यक्ति या किस प्राधिकारी के प्रति निष्ठावान रहे।

सामान्य क्रियाकलापों में यह प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि सुचारु रूप से अपना कार्य करता है और एक व्यक्ति अमुक मामलों में एक प्राधिकारी और अन्य मामलों में किसी अन्य प्राधिकारी के आदेश का पालन करता हुआ अपने काम निपटाता है। परंतु एक आपातकालीन स्थिति में प्रतिद्वंद्वी दावे पेश किए जा सकते हैं और ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि अंतिम प्राधिकारी के प्रति निष्ठा अविभाज्य है। निष्ठा का मुद्दा अंततः संविधियों की न्यायिक व्याख्याओं से निर्णीत नहीं किया जा सकता। कानून को तथ्यों से समीचीन होना चाहिए, अन्यथा वह प्रभावी नहीं होगा। यदि सारी प्रक्रियात्मक औपचारिकताओं को एक तरफ कर दिया जाए तो निरा प्रश्न यह होगा कि कौन सा प्राधिकारी एक नागरिक की अवशिष्ट निष्ठा का हकदार है। वह केंद्र है या संविधान राज्य?"

इस समस्या का समाधान इस सवाल, जो कि समस्या का मर्म है, के उत्तर पर निर्भर है। इसमें कोई संदेह नहीं कि अधिकांश लोगों की राय में एक आपातकालीन स्थिति में नागरिक को अवशिष्ट निष्ठा अंगभूत राज्यों के बजाय केंद्र को निर्देशित होनी चाहिए, क्योंकि वह केंद्र ही है, जो सामूहिक उद्देश्य और संपूर्ण देश के सामान्य हितों के लिए कार्य कर सकता है। एक आपातकालीन स्थिति में केंद्र की अभिभावी शक्तियां प्रदान करने का यही औचित्य है। वैसे भी, इन आपातकालीन शक्तियों से अंगभूत राज्यों पर कौन सा दायित्व थोपा गया है कि एक आपातकालीन स्थिति में उन्हें अपने स्थानीय हितों के साथ-साथ संपूर्ण राष्ट्र के हितों और मतों का भी ध्यान रखना चाहिए- इससे अधिक कुछ नहीं। केवल वही लोग, जो इस समस्या को समझे नहीं हैं, उसके खिलाफ शिकायत कर सकते हैं।

यहां पर मैं अपनी बात समाप्त कर देता, परंतु हमारे देश के भविष्य के बारे में मेरा मन इतना परिपूर्ण है कि मैं महसूस करता हूं, उस पर अपने कुछ विचारों को आपके सामने रखने के लिए इस अवसर का उपयोग करूं। 26 जनवरी, 1950 को भारत एक स्वतंत्र राष्ट्र होगा। (करतल ध्वनि) उसकी स्वतंत्रता का भविष्य क्या है? क्या वह अपनी स्वतंत्रता बनाए रखेगा या उसे फिर खो देगा? मेरे मन में आने वाला यह पहला विचार है। यह बात नहीं है कि भारत कभी एक स्वतंत्र देश नहीं था। विचार बिंदु यह है कि जो स्वतंत्रता उसे उपलब्ध थी, उसे उसने एक बार खो दिया था। क्या वह उसे दूसरी बार खो देगा? यही विचार है जो मुझे भविष्य को लेकर बहुत चिंतित कर देता है। यह तथ्य मुझे और भी व्यथित करता है कि न केवल भारत ने पहले एक बार स्वतंत

सतेंद्र सिंध पर हुए मोहम्मद बिन कासिम के हमले से राजा दाहिर के सैन्य अधिकारियों ने मोहम्मद बिन कासिम के दलालों से रिश्वत लेकर अपने राजा के पक्ष में लड़ने से इनकार कर दिया था। वह जयचंद ही था जिसने भारत पर हमला करने एवं पृथ्वीराज से लड़ने के लिए मोहम्मद गौरी को आमंत्रित किया था और उसे अपने व सोलंकी राजाओं को मदद का आश्वासन दिया था, जब शिवजी हिंदुओं की मुक्ति के लिए लड़ रहे थे, तब कोई मराठा सरदार और राजपूत राजा मुगल शहंशाह की ओर से लड़ रहे थे। जब ब्रिटिश सिख शासको को समाप्त करने की कोशिश कर रहे थे तो उनका मुख्य सेनापति गुलाब सिंह चुप बैठ रहा और उसमें सिख राज्य को बचाने में उनकी सहायता नहीं की। सन 1857 में जब भारत के एक बड़े भाग में ब्रिटिश शासन के खिलाफ स्वतंत्रता युद्ध की घोषणा की गई थी तब सिख इन घटनाओं को मुक दर्शकों की तरह खड़े देखते रहे। क्या इतिहास स्वयं को दोहराएगा ? यह वह विचार है, जो मुझे चिंता से भर देता है। इस तथ्य का एहसास होने के बाद यह चिंता और भी गहरी हो जाती है की जाति व धर्म के रूप में हमारे पुराने शत्रुओं के अतिरिक्त हमारे यहां भिन्न और विरोधी विचारधाराओं वाले राजनीतिक दल होंगे। क्या भारतीय देश को अपने मातगृहो से ऊपर रखेंगे या उन्हें देश से ऊपर समझेंगे ? मैं नहीं जानता। परंतु यह तय है कि यदि परिया अपने माता ग्रहों को देश से ऊपर रखेंगे तो हमारी स्वतंत्रता संकट में पड़ जाएगी और संभवतः वह हमेशा के लिए खो जाए।हम सबको दृढ़ संकल्प के साथ इस संभावना से बचाना है हमें अपने खून की आखिरी बूंद तक अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करनी है। (करतल ध्वनि) 26 जनवरी 1950 को भारत इस अर्थ में एक प्रजातांत्रिक देश बन जाएगा कि उसे दिन से भारत में जनता की जनता द्वारा और जनता के लिए बनी एक सरकार होगी यही विचार मेरे मन में आता है उसके प्रजातांत्रिक संविधान का क्या होगा ? क्या वह उसे बनाए रखेगा या उसे फिर से को देगा ? मेरे मन में आने वाला यह दूसरा विचार है और यह भी पहले विचार जितना ही चिंताजनक है। यह बात नहीं है कि भारत में कभी प्रजातंत्र को जाना ही नहीं। एक समय था जब भारत गणतंत्र से भरा हुआ था और जहां राजसत्ताएं थी वहां भी या तो वह निर्वाचित थी या सीमित। वे कभी भी निरंकुश नहीं थी। यह बात नहीं कि भारत सांसदों या संसदीय क्रियाविधि से परिचित नहीं था। बौद्ध भिक्षु संघ के अध्ययन से यह पता चलता है कि मैं केवल संसदीय क्योंकि संघ सांसद के सिवाय कुछ नहीं थे - थी बल्कि संघ संसदीय प्रक्रिया के उन सब नियमों को जानते और उनका पालन करते थे जो आधुनिक युग में सर्वविदित हैं।सदस्यों के बैठने की व्यवस्था, प्रस्ताव रखने, कोरम व्हिप, मटन की गिनती, मतपत्रों द्वारा वोटिंग, निंदा प्रस्ताव, नियमितीकरण आदि संबंधी नियम चलन में थे। यद्यपि संसदीय प्रक्रिया संबंधी यह नियम बुद्ध ने सॉन्घा हो की बैठकों पर लागू किए थे, उन्होंने इन नियमों को उनके समय में चल रही राजनीतिक सभाओं से प्राप्त किया होगा। भारत में यह प्रजातांत्रिक प्रणाली खो दी। क्या वह दूसरी बार उसे खोएगा ? मैं नहीं जानता परंतु भारत जैसे देश में यह बहुत संभव है जहां लंबे समय से उसका उपयोग में किए जाने को उसे एक बिल्कुल नई चीज समझा जा सकता है। की तानाशाही प्रजातंत्र का स्थान ले ले । इस नवजात प्रजातंत्र के लिए यह बिल्कुल संभव है कि वह आवरण प्रजातंत्र का बनाए रखें, परंतु वास्तव में वह तानाशाही हो। चुनाव में महाविजय की स्थिति में दूसरी संभावना के यथार्थ बनने का खतरा अधिक है। प्रजातंत्र को केवल ब्रह्म स्वरूप में ही नहीं बल्कि वास्तव में बनाए रखने के लिए हमें क्या करना चाहिए ? मेरी समझ से, हमें पहले काम यह करना चाहिए कि अपने सामाजिक और आर्थिक लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए निष्ठा पूर्वक संवैधानिक उपायो का ही सहारा लेना चाहिए। इसका अर्थ है, हमें क्रांति का खूनी रास्ता छोड़ना होगा।

पेज 6 का अंश पेज 7 पर देखें